

इकाई 13 तुलसी के काव्य में युग संदर्भ

इकाई की रूपरेखा

- 13.0 उद्देश्य
- 13.1 प्रस्तावना
- 13.2 तुलसी के काव्य में तत्कालीन समाज
 - 13.2.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
 - 13.2.2 काव्य में समाज का चित्रण
- 13.3 तुलसी की विचारधारा
 - 13.3.1 तत्त्व दर्शन
 - 13.3.2 सामाजिक संरचना
- 13.4 तुलसी की राजनीतिक चेतना और राम राज्य की परिकल्पना
- 13.5 सारांश
- 13.6 अभ्यास/प्रश्न

13.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप तुलसीकालीन समाज और तुलसी के काव्य में चित्रित समाज और दृष्टिकोण का अध्ययन करने जा रहे हैं। इसे पढ़कर आप :

- तुलसीकालीन समाज की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- तुलसी के काव्य में चित्रित समाज को जान सकेंगे,
- तुलसी की विचारधारा और दृष्टिकोण का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकेंगे; और
- तुलसी की राजनीतिक चेतना और राम राज्य की परिकल्पना को समझ सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

तुलसी एक बड़े कवि थे। हिंदी साहित्य में 'रामचरित मानस' जैसा लोकप्रिय और श्रेष्ठ महाकाव्य दूसरा कोई नहीं है। तुलसी ने रामकथा को जिस ऊँचाई पर पहुँचा दिया फिर कोई दूसरा कवि उस ऊँचाई को न छू सका। एक कवि के रूप में तुलसीदास की श्रेष्ठता निःसंदिग्ध है।

एक कवि को समझने के लिए उसकी विचारधारा और दृष्टिकोण को समझना जरूरी है। यह जानना जरूरी है कि कवि समग्र रूप से समाज और समाज के वंचित और हाशिए पर खड़े लोगों, जैसे स्त्री, दलित आदि के बारे में क्या सोचता है? क्या उसकी सोच अपने समय से आगे बढ़ पाई है? क्या उसके समकालीन रचनाकार कुछ भिन्न ढंग से सोच रहे थे? क्या उस समय के कवि को आज के मानदंड पर कसना उचित है? इन सब प्रश्नों को सामने रखकर ही किसी कवि या रचनाकार का संतुलित और विवेकपूर्ण मूल्यांकन किया जा सकता है। इससे कवि को समझने में भी मदद मिलती है। इसी दृष्टि से इस इकाई को आपके सामने प्रस्तुत किया गया है। यह इकाई केवल एक अध्ययन सामग्री ही नहीं है बल्कि आपको सोचने-विचारने के लिए काफी सामग्री प्रदान करती है। इससे आपकी आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक क्षमता भी विकसित हो सकेगी।

13.2 तुलसी के काव्य में तत्कालीन समाज

किसी भी कवि को समझने के लिए उसके युग को जानना जरूरी होता है। इससे यह जानने में सहाय्य होती है कि रचनाकार ने अपने युग के यथार्थ को कितनी ईमानदारी से प्रस्तुत किया है?

इससे समाज के प्रति कवि के दृष्टिकोण का भी पता चलता है। इसी उद्देश्य से यहाँ तुलसीदास के युग और उनकी कविता में प्रतिबिंबित समाज का विश्लेषण किया जा रहा है।

13.2.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

किसी भी महान कृतिकार के सृजनात्मक साहित्य में अंकित और प्रतिबिम्बित तत्कालीन समाज के स्वरूप का साक्षात्कार दोहरे तरीके से ही करना उचित प्रतीत होता है। एक तो यह कि हम उस कृतिकार के युग और परिवेश से परिचय प्राप्त करें और दूसरा यह कि उसके कृतित्व में प्राप्त तत्कालीन समाजिक यथार्थ को ऐतिहासिक संज्ञान के आलोक में परखें।

आप भी यही चाहेंगे कि तुलसीदास (1532-1623) के परिवेश, उनके जमाने और उनकी परिस्थितियों का संक्षिप्त परिचय अवश्य ही मिले। इस सिलसिले में यह याद रखना बहुत जरूरी है कि भारत के सामाजिक-राजनीतिक इतिहास में जिसे मध्यकाल कहते हैं, उसी के अंतर्गत तुलसी सोलहवीं सदी में पैदा हुए थे और सत्रहवीं सदी के तीसरे दशक में उनकी मृत्यु हुई थी। जाहिर है कि तब मुगलों का शासन था। गोस्वामीजी इन्हीं मुगल शासकों में हुमायूँ, अकबर और जहाँगीर के समकालीन थे। साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि से वे शेख मुबारक, अबुल फजल; अब्दुरहीम खानखाना, सिख गुरु रामदास और अर्जुनदास तथा दादू दयाल के भी समकालीन थे। बादशाह अकबर (1556-1605) के समय में ही भारत और यूरोप का संपर्क आरंभ हो गया था। आपमें से जो इतिहास के विद्यार्थी रहे हैं उन्हें अवश्य ही मालूम होगा कि तब तक यूरोप में पुनर्जागरण और धर्म-सुधार आंदोलन के प्रभाव से राजनीति, (ज्ञान-विज्ञान), टेक्नॉलाजी, दर्शन और साहित्य में परिवर्तन की प्रक्रिया अपनी जड़ जमा चुकी थी। अंग्रेजी साहित्य में विलियम शेक्सपीयर, मिल्टन और फ्रांसिस बेकन छाये हुए थे और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में गैलीलियो, कोपरनिकस, केपलर एक नये युग का सूत्रपात कर चुके थे।

इधर अकबर के शासनकाल में खासतौर पर उत्तर भारत के एक सूदृढ़ केंद्रीय प्रशासन के अंतर्गत देश के अधिकांश भागों को संयुक्त और सूत्रबद्ध कर दिया गया था और पारस्परिक झगड़ों में उलझी रियासतों को भी प्रत्यक्ष नियंत्रण में ले लिया गया था। अपने शासन को निरापद बनाने के उद्देश्य से अकबर ने हिन्दू सामंतों से सुलह-संधियाँ कीं और हिन्दू प्रजा का विश्वास जीतने के लिए धार्मिक भावनाओं की कद्र करने का ऐलान किया। शेख मुबारक और अबुल फजल की प्रेरणा से 'दीन-ए-इलाही' नामक एक नये धर्म का प्रवर्तन भी किया गया।

सोलहवीं सदी में दक्षिण भारत के भिन्न-भिन्न समुद्री तटों और बंदरगाहों पर जहाजी बेड़े समेत पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज व्यापारी उतर रहे थे। मुगल शासकों ने पहले उन्हें व्यापार के विस्तार के हित में प्रश्रय देने की नीति अपनायी, पर बाद में बंदरगाहों पर नियंत्रण को लेकर संघर्ष भी शुरू हो गया। हिंदी भाषी क्षेत्रों के जनसाधारण इन घटनाक्रमों से पूरी तरह बेखबर थे। विभिन्न धार्मिक पंथों के प्रवर्तक, प्रचारक और अनुयायी भी इन घटनाओं से बेखबर थे। चाहे वे कृष्ण भक्त हों या राम भक्त, निरगुनिये हों या सगुनिये, शैव हों या शाक्त, तंत्र साधक हों या योगी - इन सबके आगे सर्वोपरि समस्या थी अपने पंथ की सर्वोच्चता की स्थापना।

अकबर दरबार के दस्तावेजों में भी रेनेसां से जन्मे नये यूरोप के ज्ञान-विज्ञान और उससे आदान-प्रदान की नीति का कोई संकेत नहीं मिलता। शासकों और दरबारियों के मन में पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज व्यापारियों के मंसूबों को लेकर कहीं किसी आशंका के भी संकेत नहीं मिलते हैं। थोड़ा-बहुत झगड़ा होता है तो सूरत और खंभात के बंदरगाह पर नियंत्रण को लेकर जिसे व्यापारिक हित का मुद्दा मानकर गंभीरता से नहीं लिया जाता। निष्कर्ष यह कि उधर आधुनिक यूरोप भारत के दरवाजे पर दस्तकें दे रहा था, इधर यूनानी-अरबी-फारसी लेन-देन और अनुवादों के माध्यम से विकसित ज्ञान-विज्ञान और टेक्नॉलाजी की परंपरा का भी हास और क्षरण होता गया। स्वयं अबुल फजल ने स्वीकार किया है - पारंपरिकता के तेज झोंके चलने लगे तथा बुद्धिमत्ता के चिराग मद्धिम पड़ते गये। क्यों और कैसे जैसे सवाल के लिए दरवाजा बंद हो चुका है। सवाल करना और जिज्ञासु होना निरर्थक समझा जाने लगा है तथा यह कुफ्र माना जाता है। पिता से, गुरु से,

सगे-संबंधियों से, दोस्तों से और पड़ोसियों से जो कुछ भी मिले, उसे खुदा की मेहरबानी माना गया और उनसे विपरीत राय देने वालों को विधर्मी और अपवित्र होने का आरोप झेलना पड़ा। यद्यपि प्रबुद्धों में से कुछ ने अपना रास्ता अलग बनाने की लगन दिखाई, लेकिन वे भी अपने अमल के सही रास्ते पर प्रायः आधी से अधिक दूरी तय नहीं कर सके।

यूनान, अरब और ईरान के परस्पर लेनदेन से 13वीं सदी के हिन्दुस्तान में अनुवादों और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में नये चिंतन की जो परंपरा शुरू हुई थी - सोलहवीं सदी तक आते-आते खत्म हो गयी। मध्यकालीन भारतीय इतिहास के विद्वान इरफान हबीब ने मध्यकालीन भारत में तर्क शक्ति और विज्ञान शीर्षक आलेख में उपर्युक्त स्थापना के पक्ष में पर्याप्त ब्यौरे और प्रमाण दिये हैं।

इसी सामाजिक-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में तुलसीदास पैदा हुए थे। इस संकीर्ण बौद्धिक परिवेश में तुलसीदास ने होश संभाला। आँखें खोलकर देखते भी तो क्या देखते? गोस्वामी जी का समकालीन बौद्धिक वर्ग या तो धर्मशास्त्र की शरण में था या फिर सामंती राजतंत्र द्वारा पालित-पोषित। शासक वर्ग की सुचितिते नीति के तहत जन-शिक्षा के अभाव का हवाला देते हुए बर्नियर ने अपने यात्रा वृत्तान्त में ठीक ही कहा था कि हिन्दुस्तान के जनसाधारण की गहन और सार्वत्रिक अज्ञानता का यह युग था।

13.2.2 काव्य में समाज का चित्रण

भक्तिकाल में किसी रचनाकार के कृतित्व में तत्कालीन यथार्थ का इतना विशुद्ध और दारुण चित्र नहीं मिलता, जितना तुलसी के साहित्य में प्राप्त होता है। कवितावली में तुलसीदास कहते हैं काल बड़ा कराल है, राजा निर्दय है और राज समाज छली-कपटी है - कालु कराल, नृपाल कृपाल न, राजसमाजु बड़ोई छली है। (कवितावली, उत्तरकांड, पद संख्या 85) जीवन की विभीषिका संपूर्ण यथार्थ को एक दुःस्वप्न के रूप में तब्दील कर चुकी है। दिनोंदिन दरिद्रता दुष्काल, दुःख, पाप और कुराज्य दूने होते जा रहे हैं। इस भयंकर वास्तविकता से भय खाकर सुख और सुकृत संकुचित हो रहे हैं। इस जमाने की करालता ऐसी है कि बड़े-बड़े पापी डराने-धमकाने की ताकत के बल पर दाँव लगाते हैं और जो भी माँगते हैं, आसानी से पा जाते हैं। पर भले आदमी का बुरा हो जाता है -

दिन-दिन दूनो देखि दारिद्र, दुकालु, दुखु,
दुरितु, दुराजु सुख-सुकृत सकोच है।
मागें पैत पावत पचारि पातकी प्रचंड,
कालकी करालता, भलेको होत पोच है।।

(कवितावली, उत्तरकांड, पद संख्या 81)

अपने युग के यथार्थ और पीड़ामय संसार के साक्षात् गवाह होने के नाते भक्त कवि तुलसीदास का कहना है इस संसार का संकट मिटेगा तो कैसे मिटेगा? तप तो कठिन है, और तीर्थाटन करके अनेक स्थानों में विचरने से भी कुछ नहीं होगा क्योंकि कलियुग में न कहीं वैराग्य है, न कहीं ज्ञान है - सब कुछ असत्य, सारहीन और फोकट का झूठ है। नट के समान अपने पेट रूपी कुत्सित पिटारे से करोड़ों तरह के इन्द्रजाल और कौतुक का ठाठ खड़ा करना व्यर्थ है। सुख पाने का एक ही साधन है; रामनाम - रसना निसिबासर रामु रटो :

न मिटे भवसंकटु, दुर्घट है तप, तीरथ जन्म अनेक अटो।
कलिमें न बिरागु, न गयानु कहूँ, सबु लागत फोकट झूठ-जटो।।
नटु ज्यों जनि पेट-कुपेटक कोटिक चेटक-कौतुक-ठाट डटो।
तुलसी जो सदा सुखु चाहिअ तौ, रसनाँ निसिबासर रामु रटो।।

(कवितावली, उत्तरकांड पद संख्या 87)

इस लोक में जन्म ग्रहण करने के बाद इन्द्रिय निग्रह अत्यंत कठिन कार्य है। दान, दया, यज्ञ, कर्म और स्वधर्म - सब धन के अधीन है। तप, तीर्थ और योग साधना वैराग्य से होते हैं किंतु मन तो हमेशा चंचल रहता है। मन की दृढ़ता के बिना यह योग साधना और वैराग्य कैसे संभव है? अतः इस भयंकर समय में राम ही कृपा कर सकते हैं। वही एकमात्र अवलम्ब है -

दम दुर्गम, दान, दया, मुख, कर्म, सुधर्म अधीन सबै धनको ।
तप, तीरथ, साधन जोग, बिरागसों, होइ, नहीं दृढ़ता तनको ।।
कलिकाल करालमें 'राम कृपालु' यहै अवलंबु बड़ो मनको ।
'तुलसी' सब संजमहीन सबै, एक नाम-अघारु सदा जनको ।।

(कवितावली, उत्तरकांड, पद संख्या 87)

निःस्वार्थ भाव से भक्ति, सत्संग और स्वधर्म के पालन में तल्लीन - इस वीतरागी संत को इस बात की कितनी व्यथा हुई होगी, मन को कैसा दुःसह आघात लगा होगा कि अब सब कुछ - स्वधर्म तक धन के अधीन हो गया है। यथार्थ के इस दंश और नग्न सत्य के साक्षात्कार ने उनकी चेतना को कितना झकझोरा होगा इसकी कल्पना की जा सकती है। धन की लूट-खसोट पर अवलम्बित समाज में तुलसी अपनी हैसियत, अपनी वास्तविक स्थिति की दो टूक और निर्मम समीक्षा करते हैं - मेरा मन तो ऊँचा है और मेरी रुचि भी ऊँची है, पर मेरा भाग्य कपट नीचा है। मैं लोकरीति के लायक कभी न रहा, बल्कि उलटे हमेशा स्वच्छंद और वाचाल बना रहा। इतने साधन थे ही नहीं कि अपने स्वार्थ की पूर्ति करता, भला परमार्थ कैसे कर पाता। इस पेट की भूख (जो कि बड़वाग्नि जैसे कठिन रही है) के कारण मेरी जिंदगी की का जंजाल हो गई है, चूंकि न तो कोई चाकरी मिली, न खेती की, न कभी व्यापार किया और न कभी धंधे के रूप में भिक्षावृत्ति अपनायी। आजीविका के लिए न तो कोई धंधा मिला और न कभी सीख पाया। हकीकत में हालत तो यहाँ तक पहुँच गई है कि अगर राम सहारा न दें तो अपने पितरों को भेंट चढ़ाने के लिए मेरे सिर पर बाल भी नहीं हैं :

ऊँचो मन, ऊँची रुचि, भागु नीचो निपट ही,
लोकरीति लायक न, लंगर लबाह है।
खारथु, अगमु, परमारथ की काहा चली,
पेटकी कठिन जगु जीव को जवारू है।।
चाकरी न आकरी, न खेती, न बनिज-भीख,
जानत न कूर कुछ किसब कबारू है।
तुलसीकी बाजी राखी रामहीके नाम, न तु
भेंट पितरन को न मुड्डू में बारू है।।

(कवितावली, उत्तरकांड, पद संख्या 67)

तुलसी अपने अभाव, अपनी निपट दरिद्रता और बेरोजगारी की दारुण अवस्था का जो चित्र पेश करते हैं, वह जन-साधारण की अकिंचनता और बदहाली के अंकन के क्रम में खींचे गए चित्रों के अलबम का ही एक हिस्सा है। ऐसा चित्रांकन आज भी जन-सामान्य की वैसी ही अवस्था देखकर करुणा उत्पन्न करता है - ऐसी करुणा जो सामंती शासक वर्ग के प्रति गुस्से और नफरत से भरी है। दरिद्रता के चित्रण की इसी कड़ी में अन्नपूर्णा के माहात्म्य के बहाने भूख से बिललाते रंक और अकिंचन लोगों का वर्णन आता है -

लालची ललात, बिललात द्वार-द्वार दीन,
बदन मलीन, मन मिटै ना बिसूरना।
ताकत सराध, कै बिबाह, कै उठाह कछू,
डोलै लोल बूझत सबद डोल-तूरना।।
प्यासेहूँ न पावै बारि, भूखे न चनक चारि,
चाहत अहारन पहार, दारि घूर ना।
साकको अगार, दुखभार भरो तोलौ जन
जौलौ देबी द्रवै न भवानी अन्नपूरना।।

(कवितावली, उत्तरकांड, पद संख्या 148)

भूखे लोगों पर देवी अन्नपूर्णा की कृपा नहीं है तभी तो जन-साधारण को इस अकाल-दुष्काल से भयंकर भुखमरी का सामना करना पड़ रहा है। सिर्फ अकाल ही नहीं है, उसके साथ-साथ सूखा भी पड़ रहा है। नतीजा यह कि न तो प्यासे को पानी मिलता है और न भूखे को भोजन। चने के चार दाने तक नसीब नहीं होते। भूख से व्याकूल मनुष्य लालची जैसा लगता है चूँकि वह टुकड़े-टुकड़े के लिए लालायित होकर, दीन और मालिक मुख से द्वार-द्वार बिलबिलाता फिर रहा है। पर इससे भूख मिटाने की चिंता दूर नहीं होती। कहीं श्राद्ध, विवाह या किसी उत्सव की टोह में वे लगे रहते हैं। कहीं दूर से भी जब ढोल या तुरही की आवाज सुनायी देती है तो वे दौड़ पड़ते हैं। भुखमरी और अकाल के इस दुर्दिन में आहार की इच्छा पहाड़ के समान है। पर इसके बावजूद उन्हें घूरे पर फेंकी दाल भी नसीब नहीं होती। जन-साधारण शोक का आगार बना हुआ है, दुःखभार से तड़प रहा है।

गोस्वामी तुलसीदास अपने वर्णन में मूर्तिमत्ता के लिए प्रसिद्ध हैं। मूर्तिमत्ता की इसी कला के उदाहरण के रूप में दैन्य और गरीबी के चित्र तो मिलते ही हैं - दरिद्रता रूपी रावण का रूपक भी बार-बार मिलता है। जिस तरह रावण का संहार आवश्यक है, उसी तरह दरिद्रता उत्पन्न करने वाले दुष्ट सामंती शासन का भी विनाश आवश्यक है। किसानों, बनियों और कारीगरों की कैसी फटेहाली और दुर्दशा थी, इसे खास तौर पर कवितावली के उत्तरकांड के अनेक पदों में दर्शाया गया है। यहाँ उदाहरण के लिए दोहे दिये जा रहे हैं -

किसबी, किसान-कुल, बनिक, भिखारी, भाट,
चाकर, चपल नट, चोर, चार चेटकी।
पेटको पढ़त, गुन गढ़त चढ़त गिरि,
अटत गहन-गन अहन अखेटकी।।
ऊंचे-नीचे करम, धरम-अधरम करि,
पेट ही को पचत, बेचत बेटा-बेटकी।
'तुलसी' बुझाइ एक राम घनस्याम ही तें
आगि बड़वागितें बड़ी है आगि पेट की।।

(कवितावली, उत्तरकांड, पद संख्या 96)

खेत मजदूर, किसान, व्यापारी, भाट, भिखारी, चोर, दूत और बाजीगर - अर्थात् आम गरीब लोग पेट के लिए ही पढ़ते हैं, पेट के लिए ही तरह-तरह के उपाय करते हैं, दुर्गम पर्वतों और जंगलों में जाकर शिकार करते हैं। ऊंच-नीच कर्म, धर्म-अधर्म, नीति-अनीति सब पेट के लिए ही करते हैं - यहाँ तक कि बेटा-बेटी को बेच देते हैं। पेट की यह बड़वागि ऐसी है जिसे भगवान राम श्याम मेघ की वर्षा करके ही शांत कर सकते हैं।

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिकको बनिय, न चाकर को चाकरी।
जीविका बिहीन लोग सधिमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों "कहाँ जाई, का करी?"
बेदहूँ पुरान कही, लोकहूँ बिलोकिअत,
साँकरे सबै पै, राम। रावरें कृपा करी।
दारिद-दसानन दबाई दुनी, दीनबंधु!
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी।।

(कवितावली, उत्तरकांड, पद संख्या 97)

किसानों की खेती नहीं होती, भिखारी को भीख नहीं मिलती, बनियों का व्यापार चौपट हो गया है और चाकरी चाहने वालों को रोजगार नहीं मिलता। जीविका से हीन जनसाधारण शोकाकुल और संतप्त अपनी तड़फड़ाहट में एक-दूसरे से पूछते हैं - कहाँ जायें, क्या करें? वेद, पुराण और लोक सभी कहते हैं कि ऐसे संकट में सिर्फ आपकी कृपा से ही समस्या का कोई सभाधाने हो सकता है। हे दीनबंधु राम

- दरिद्रता रूपी रावण ने दुनिया को दबोच रखा है - इस पाप रूपी ज्वाला को देखकर तुलसीदास कातर होकर हाहाकार करते हैं - प्रार्थना करते हैं।

अनेक इतिहासकारों ने तत्कालीन सामाजिक अवस्था का विश्लेषण करते हुए यह बताया है कि उत्तर मध्यकाल में बार-बार अकाल पड़ता था और लाखों लोग भुखमरी की भेंट चढ़ जाते थे। ऊपर उल्लिखित पदों से भी इस बात की पुष्टि होती है। कलिकाल वर्णन से संबंधित सभी पदों में उस युग के यथार्थ का ही साक्षात्कार है - यद्यपि किंचित् पौराणिक और धार्मिक पुट भी साथ-साथ द्रष्टव्य हैं।

अकाल और सूखा पड़ने के समय निर्धन जन-साधारण की तबाही-बर्बादी का विश्वसनीय चित्र देने में तुलसी का अद्वैतवाद बाधक नहीं बनता है। पर क्या सामान्य दिनों में जन-साधारण की अवस्था के विश्वसनीय वर्णन उनके काव्य में उपलब्ध हैं? प्रकारान्तर से लोगों के दैन्य और अभाव के प्रति एक संवेदनशील रचनाकार के रूप में उनकी सजगता सम्पूर्ण कृतित्व में छापी हुई है। इसका एक प्रमाण तो यही है कि अपने उपास्य को सामर्थ्यवान, सर्वशक्तिमान, पराक्रमी और अलौकिक गुणों से संपन्न बताने मात्र से वे संतुष्ट नहीं होते। उन्हें ऐसा प्रतीत है कि इतना बताने मात्र से राम के प्रति अनुराग उत्पन्न होने वाला नहीं है। अतः बार-बार कृपानिधान, करुणा के आगार, दीनदयालु, गरीब नवाज और विपन्न-वंचित जनों के शरणदाता के रूप में राम की महिमा का बखान किया गया है। "रामचरितमानस" में राम वनगमन की कथा के साथ-साथ ग्रामीण-जनों की झोपड़ियों और अभावग्रस्त स्थितियों का विवरण उस जमाने के जन-साधारण का वास्तविक दिग्दर्शन कराने में समर्थ है। वनवासी जातियों की जीवन-स्थिति के वर्णन प्रसंग भी इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं। गरीब जन-साधारण राजपरिवार की अंतर्कलह के दुःखदायी परिणामों पर जैसी टिप्पणियाँ करते हैं और आवभगत में अपनी सहज निश्छलता का जैसा परिचय देते हैं - उससे भी पता चलता है कि अपने समकालीन दलित-वंचित जनसमुदाय को गोस्वामी जी किस दृष्टि से देखते थे। अपनी वास्तविकता अर्थात् अपने दैन्य को पूर्वजन्म का फल मानने वाली प्रजा सामंती मूल्यों की अनुगामिनी बनी हुई है। विचारधारा के स्तर पर तुलसी इसे गौरवान्वित करते हैं। अयोध्या कांड में वर्णित केवट प्रसंग इस दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण और सार्थक है।

राम, लक्ष्मण और सीता गंगा तट पर हैं। नदी पार करने के लिए केवट से आग्रह किया जा रहा है। रामचरितमानस और कवितावली में राम और केवट का संवाद थोड़ा भिन्न-भिन्न है। रामचरितमानस में केवट कहता है कि मेरी तरणी मुनि की धरनी हो जाएगी तो मैं रोजी रोटी कैसे कमाऊंगा? मेरे पास और तो कोई धंधा नहीं है। इस बहस के बाद चरण पखारने की अनुमति मिलते ही केवट राजकुल के परिवार को नांव से पार उतार देता है। सीता नाव की उतराई के लिए अपनी रत्नजड़ित अंगूठी देना चाहती हैं। केवट का उत्तर है - मूझे अंगूठी नहीं लेनी। मुझे तो सब कुछ मिल गया। मेरे दोष, दुःख और दरिद्रता की दावाग्नि बुझ गयी - नाथ आज मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दरिद दावा। कवितावली में यही संवाद तत्कालीन यथार्थ का एक दूसरा पहलू भी सामने लाता है। केवट तर्क करता है कि मेरी नौका सड़ी-गली है, दूसरी बनवा नहीं सकता, छोटे-छोटे बच्चों का लालन-पालन कैसे करूंगा। उसके घर में पत्तल पर मछली के सिवा कुछ भी नहीं होता। बच्चे छोटे-छोटे अर्थात् कमाने लायक नहीं हैं। मैं दीन-हीन और दरिद्र तो हूँ ही। वेद पाठी ब्राह्मण को दी जाने वाली शिक्षा-सुविधा से मेरे बच्चे वंचित हैं और मैं निषाद जैसी शूद्र जाति का होने के कारण आपसे झगड़ा मोल नहीं ले सकता -

पात भरी सहरी, सकल सुत बारे-बारे,
केवटकी जाति, कछु वेद न पढ़ाईहौं।
सबु परिवारु मेरो याहि लागि, राजा जू
हौं दीन बिल्लीन, कैसे दूसरी गढ़ाईहौं।

(कवितावली, अयोध्याकांड, पद संख्या 8)

प्रभु से बात नहीं बढ़ाऊंगा - प्रभु सों निषादु हवै के बादु ना बढ़ाईहौं।

कवितावली में सामंती समाज के प्रति तुलसी का दृष्टिकोण आलोचनात्मक है। समाज में व्याप्त असमानता, दरिद्रता, गरीबी आदि से वे दुखी है और इसीलिए वे बार-बार अपने राम से इन दुखों को दूर करने की प्रार्थना करते हैं।

13.3 तुलसी की विचारधारा

कविता में इन्द्रिय बोध, भाव और विचार तीनों परस्पर गुंथे होते हैं। भक्तिकाल के कवि इस नियम के अपवाद नहीं हैं। तुलसी काव्य के आस्वादन और विवेचन के क्रम में गोस्वामी जी की विचारधारा, उनकी दार्शनिक दृष्टि और समाज-संबंधी उनकी मान्यताओं को लेकर आपको काफी माथापच्ची करनी पड़ती है। इस संदर्भ में तुलसी काव्य के मर्मज्ञ विद्वानों के बीच विवाद और मतभेद से आपकी परेशानी और भी बढ़ जाती है। आपको साफ-साफ पता नहीं लगता कि वे अद्वैतवादी हैं या विशिष्टाद्वैतवादी, इस सृष्टि को वे सत्य मानते हैं या मिथ्या, वे भौतिकवादी हैं या भाववादी, गोचर सांसारिक सत्ता को वे स्वीकार करते हैं या अस्वीकार, ब्रह्म और जीव के बीच वे द्वैत की स्थिति मानते हैं या अद्वैत, मायावाद का अनुमोदन करते हैं या खंडन? ब्रह्म चिंतन और गोचर-अगोचर सत्ता पर तुलसी की वैचारिक मान्यताओं को लेकर चल रही बहसों में वैदिक एवं अवैदिक दर्शनों के भाष्यकारों के उद्धरणों और उल्लेखों से जूझते हुए आपको काफी दिमागी कसरत करनी पड़ती है - अंत में हाथ कुछ भी नहीं आता। इसी तरह सामाजिक संरचना पर उनके विचारों को लेकर भी आलोचकों के बीच अंतहीन बहस रटी है। नतीजा यह कि इस मुद्दे पर भी आप इस उलझन से निकल नहीं पाते कि तुलसी जाति प्रथा, स्त्री-समाज और राजतंत्र के बारे में अपनी सोच में रुढ़िवादी हैं या प्रगतिशील?

ऐसी स्थिति में तुलसी की विचारधारा की स्पष्ट समझ के लिए उनकी काव्यकृतियों में आये वैचारिक, दार्शनिक और सामाजिक प्रसंगों को ध्यान से पढ़ना आवश्यक है।

13.3.1 तत्त्व दर्शन

रामचरितमानस के बालकांड के आरंभ में ही गोस्वामी जी की उक्ति है - सगुण और निर्गुण दोनों ब्रह्म के ही स्वरूप हैं (अगुण सगुण दुइ ब्रह्म सरुपा)। पर इन दोनों से बड़ा है रामनाम (मोरें मत बड़ नाम, दुहू तें)। ब्रह्म चिंतन के अंतर्गत अपनी इसी मान्यता को एक आलंकारिक दृश्यचित्र द्वारा स्पष्ट करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं - ब्रह्म अग्नि के समान है, एक-एक अग्नि जो लकड़ी में छिपी है (एक दारुगत देखिअ एकू) अर्थात् अव्यक्त और व्यक्त, निर्गुण और सगुण, अगोचर और गोचर - दोनों एक ही ब्रह्म है और वह अविनाशी है, सत चित् और आनंद की पुंजीभूत राशि है। इससे आपको स्पष्ट हो गया होगा कि निर्गुण संतों से भिन्न उनकी वैचारिक कल्पना है। एक निरपेक्ष परम सत्ता जो लीला करने के लिए सगुण रूप, लौकिक रूप, अवतारी रूप धारण करती है - उस परमसत्ता के पद पर तुलसी राम को प्रतिष्ठित करते हैं।

तुलसी के वैचारिक और दार्शनिक दृष्टिकोण के अंतर्गत, जीव और शेष सृष्टि पर उनके चिंतन को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। रामचरितमानस में काकभुशुण्डि-गरूड़ संवाद के अंतर्गत भगवान राम स्वयं कहते हैं - मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा।। (रामचरितमानस, उत्तरकांड, पद संख्या 86)

परम पद पर अधिष्ठित परमेश्वर राम स्वयं इस रहस्य को खोल देते हैं कि यह सारा संसार ही उनकी माया से उत्पन्न है - और इसी माया से उत्पन्न संसार में विविध प्रकार के चराचर जीव हैं। इससे आपको स्पष्ट हो गया होगा कि तुलसी की दृष्टि में ब्रह्म और जीव अलग-अलग हैं, पर जीव की पृथक् सत्ता भी ब्रह्म की माया के वशीभूत है। दार्शनिक विवेचन के धरातल पर आप सहज ही इसे समझ सकते हैं कि तुलसी की मान्यता के अनुसार यह गोचर लौकिक जगत अपने वस्तुगत नियम से स्वयं उत्पन्न और विकसित न होकर, अगोचर परब्रह्म परमेश्वर की माया से उत्पन्न है। इसका तात्पर्य यह कि तुलसी विचार और दर्शन में भाववादी हैं, न कि भौतिकवादी। भारतीय दर्शन की भाववादी धाराओं में वे मूलतः अद्वैतवादी हैं, पर जीव की ब्रह्म-आश्रित पृथक् सत्ता पर बल देने के कारण विशिष्टाद्वैतवाद के एक पहलू का अनुमोदन करते हैं। ईश्वर और जीव में फर्क बतलाने के लिए

गोस्वामी जी एक और भी प्रसंग लाते हैं और वह है ज्ञान। भक्तिकालीन साहित्य में इस "ज्ञान" शब्द की बारम्बार आवृत्ति हुई है। प्रायः सभी भक्त रचनाकारों की दृष्टि में ज्ञान का अर्थ है ब्रह्म का ज्ञान। यह ज्ञान माया की वजह से जीवों को नहीं होता, अज्ञान का परदा पड़ा रहता है, जीव के चित्त पर अज्ञान और अविद्या का अंधेरा छाया रहता है। उल्लिखित काकभुशण्डि-गरूड़ संवाद में रामकथा के साथ-साथ ज्ञान चर्चा भी चलती रहती है, शिव-पार्वती संवाद और यज्ञवल्क्य-भारद्वाज संवाद का भी यही हाल है। काकभुशण्डि जी पक्षिराज गरूड़ को बताते हैं -

ज्ञान अखंड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर।।
 जौ सब के रह ग्यान एकरस। ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस।।
 माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुनखानी।।
 परबस जीव स्वबस भगवता। जीव अनेक एक श्रीकता।।
 मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया।।

(रामचरितमानस, उत्तरकांड, पद संख्या 78)

सिर्फ मायापति प्रभु राम ही अखंड ज्ञान स्वरूप हैं, शेष जड़-चेतन सभी पदार्थ और जीव माया के वशीभूत हैं। अगर जीवों को भी अखंड ज्ञान होता तो फिर ईश्वर और जीव में फर्क क्या रहता। अभिमानी जीव माया के वशीभूत है, पर सत्व, रज और तम - इन तीनों गुणों की खान माया ईश्वर से नियंत्रित होती है, ईश्वर के वशीभूत है। जीव परतंत्र है, पर भगवान स्वतंत्र हैं। जीव अनेक हैं, पर भगवान एक है। यद्यपि मायाकृत यह भेद असत्य है तथापि वह भगवान की भक्ति के बिना करोड़ों उपाय करने के बाद भी नष्ट नहीं होता।

उपर्युक्त पद में आपने देखा कि परम विचार (एब्सोल्यूट आइडिया) और निरपेक्ष परम सत्ता की परम ज्ञान से अभिन्नता दर्शायी गई है। पश्चिमी दर्शन में इसे प्रोटोटाइप भी कहा जाता है। एक ही परम सत्ता की लौकिक अभिव्यक्ति के रूप में राजतंत्र के सम्राट और अनेकानेक जीवात्माओं को प्रजागण के रूप में देखने से तात्त्विक चिंतन और सामाजिक चिंतन एकाकार हो जाते हैं। जीवात्मा परतंत्र है और बिना हरिकृपा के उसे ज्ञान नहीं होता, उसके दुःख का निवारण भी नहीं होता। इसीलिए भक्ति की जरूरत है, हरिभक्ति के बिना सांसारिकता से जीवों को त्राण नहीं मिल सकता।

इसी क्रम में तुलसी जिस निष्कर्ष की ओर बढ़ते हैं, उस पर सहज ही आपका ध्यान गया होगा। रामचरितमानस में शिव-पार्वती संवाद के अंतर्गत पार्वती अपनी शंका रखती हैं। हे कामदेव को भस्म करने वाले शिवजी ! आप जिस राम का जाप करते हैं क्या ये राम अयोध्या के राजा के पुत्र हैं या निर्गुण-निराकार कोई और राम हैं? इस शंका का संदर्भ यह भी है कि निर्गुण संत कबीर जिस राम की भक्ति करते हैं, उसके बारे में वे कह चुके हैं कि राम दशरथ-पुत्र नहीं बल्कि निर्गुण अगोचर परब्रह्म हैं। तुलसी कबीर आदि निर्गुण धारा के संतों का खंडन कर रहे थे और अपनी विचारधारा को शंका-समाधान द्वारा प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न कर रहे थे।

पार्वती की उल्लिखित शंका के अंतर्गत यह प्रश्न भी आता है कि यदि वे राजपुत्र हैं तो फिर ब्रह्म कैसे? और यदि ब्रह्म हैं तो सीता के विरह में उनकी मति बावली कैसे हो गई? पार्वती कहती हैं उनके ऐसे चरित्र को देखकर और महिमा सुनकर उनकी बुद्धि चकरा गई है -

जौ नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि।
 देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि ।।

(रामचरितमानस, बालकांड)

अपनी शंका के अंतर्गत अनेकानेक प्रश्न और रामचरित के विभिन्न घटना प्रसंगों को लाकर फिर मुख्य रूप में यही अनुरोध करती हैं कि रामचंद्र के अवतार की कथा सुनाइए - पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा। पार्वती के उक्त प्रश्नों के उत्तर के अंतर्गत तुलसी कबीर आदि संतों को खरीखोटी ही नहीं सनाते बल्कि उन्हें मोहरूपी पिशाच से ग्रस्त (ग्रसे जे मोह पिशाच), पाखंडी, हरिपद विमुख और अधम

नर (कहहिं सुनहिं अस अधम नर) बताकर पूरी तरह लाछित करते हैं। तुलसी की दृष्टि में दशरथ पुत्र राम को परब्रह्म परमेश्वर न मानने वाले व्यक्ति बनता तो है संत, पर वह अज्ञानी, मूर्ख, अंधा और भाग्यहीन है, उसके मनरूपी दर्पण पर विषयासक्ति रूपी काई जमी हुई है, वह व्यभिचारी, छली और कुटिल है तथा उसने कभी स्वप्न में भी सच्चे संतों के साथ समागम नहीं किया। ऐसे लोग निर्गुण-सगुण के बारे में मनगढ़त बातें बका करते हैं। इन्हें सन्निपात-उन्माद आदि वायुरोग हो गया है, ये मदिरा के नशे में चूर होकर बकवास करते हैं। (रामचरितमानस, बालकांड, पद संख्या 114-115)

खैर इस प्रसंग को छोड़िए। उस युग के गर्मागम बौद्धिक विवादों के एक नमूने के रूप में इस प्रसंग को याद रखिए। पार्वती की शंका का समाधान करते हुए शिव कहते हैं -

सगुनहि अगुनहि नहि कुछ भेदा । गावहि मुनि पुरान बुध बेदा ॥
अगुन अरुप अलख अज जोई । भगत प्रेम बस सगुन सो होई ॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें । जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे ॥

(रामचरितमानस, पद संख्या 116)

लकड़ी में अव्यक्त अग्नि और जली लकड़ी में व्यक्त अग्नि के दृष्टान्त के बाद यहाँ दूसरा दृष्टान्त रखा गया है - अर्थात् जल और उपल (ओले) में भेद नहीं है। सगुण-अगुण दोनों रूप में उसी की सत्ता है। वह अलौकिक है, अमूर्त है, अदृश्य है -

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना । कर बिनु करम करै बिधि नाना ।
आनन रहित सकल रस भोगी । बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा । ग्रहै ग्रान बिनु बास असेषा ॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी । महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥

(रामचरितमानस, पद संख्या 118)

इस अलौकिक गुणों से युक्त परमेश्वर ने दशरथ-पुत्र के रूप में रघुकुल में भक्तों के हित के लिए जन्म ग्रहण किया और अयोध्या में निवास किया। जब जब धर्म की हानि होती है और अधर्म-अभिमानि असुरों की संख्या में वृद्धि होती है - उनके द्वारा भयंकर अन्याय होता है, ब्राह्मण, गाय, देवता और पृथ्वी को कष्ट होता है, तब तब कृपानिधान प्रभु भाँति-भाँति के शरीर धारण कर सज्जनों की पीड़ा हरते हैं, असुरों को मारकर देवताओं को स्थापित करते हैं, वेदों की रक्षा करते हैं और जगत में अपना यश प्रकाशित करते हैं। श्री रामचंद्र के अवतार का यही रहस्य है।

यह सब पढ़कर आपको क्या यह प्रतीत नहीं होता कि वैदिक-पौराणिक संस्कृति के कुछ सूत्र वाक्य दोहराकर गोस्वामी जी अपने युग को अतीत के सांस्कृतिक अवशेष के चौखटे में फिट करना चाहते हैं? खैर यहाँ तो ब्राह्मण, गौ, देवता और पृथ्वी की रक्षा के उद्देश्य से अवतार की बात की गई है। पर कवितावली में इस अवतारवाद के साथ दो नई बातें जोड़ी गई हैं - भक्तों के हित के लिए पवित्र नरलीला; तथा नट की नृत्यलीला के रूप में बहुरूपिया के करतब :

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप । किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप ॥
जथा अनेक वेष धरि नृत्य करइ नट कोइ । सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ ॥

(रामचरितमानस, उत्तरकांड, पद संख्या 72)

परमेश्वर राम माया की शक्ति से यह नरलीला करते हैं। इसी माया की शक्ति से वे संपूर्ण सृष्टि की रचना, पालन और संहार करते हैं। बीच-बीच में उलझन पैदा करने वाली एक शंका सबको होती है- अतः आपके मन में भी यह प्रश्न उठता होगा कि ये त्रिदेव कौन हैं? तुलसी के अनुसार - ब्रह्मा, विष्णु, महेश - तीनों अपना देवत्व प्रभु राम से ही प्राप्त करते हैं। लक्ष्मण शेषनाग के अवतार हैं। सीता मूल प्रकृति, आद्याशक्ति, योगमाया और लक्ष्मी की अवतार हैं। यह सारा संसार सीताराम से व्याप्त है (सीय राममय सब जग जानि)।

यहाँ यह याद करने की जरूरत है कि कुछेक समीक्षक इस मान्यता को दोहराते हैं कि तुलसी मायावाद के समर्थक नहीं हैं। आप गोस्वामी जी के संपूर्ण कृतित्व को यदि विशद पाठ के रूप में देखें तो मायावाद के खंडन से संबंधित एक भी उक्ति आपको नहीं मिलेगी। माया का लगभग ऐसा ही आख्यान कबीर में भी मिलता है (माया महाठगिनी मैं जानी)। गोस्वामी जी इस प्रसंग में संतों की परंपरा का ही अनुसरण करते हैं। सत्व, रज और तम - तीनों गुणों से युक्त यह माया, त्रिगुणात्मिका शक्ति है (तिरगुण फाँस लिये कर डोलत, बोलत मधुरी बानी)। गोस्वामी जी विस्तार से माया के बारे में बताते हुए कहते हैं कि संपूर्ण विश्व, देव, दनुज, मनुष्य, राजा-प्रजा, किसान-मजदूर सभी इसके वश में हैं। माया स्वतः तो जड़ होती है पर देखो प्रभु की लीला कि उन्हीं की प्रेरणा से वह क्रियाशील होती है। माया राम की चेरी है। माया का ही एक रूप है अविद्या। अविद्या द्वारा ही वह जीव को भवचक्र-भवकूप में डाले रखती है और दुःख देती रहती है। गोस्वामीजी ने जीव और शरीर में भी फर्क किया है। तुलसी के अनुसार पंचभूतों से निर्मित शरीर से जीव भिन्न होता है, उसकी अलग सत्ता है, इसीलिए जीव नित्य है, वह मरता नहीं, आवागमन के चक्र में फँसा रहता है और कर्मों का फल जन्म-जन्मान्तर तक भोगता रहता है।

तत्व मीमांसा के इन प्रश्नों पर तुलसी की एक तर्क-व्यवस्था है जिसके निष्कर्ष के रूप में वे भक्ति का महत्व प्रतिपादित करते हैं। ज्ञान प्राप्त करते ही जीव को संसार-चक्र और आवागमन से मुक्ति मिल जाती है। गोस्वामी जी का मत है कि रामभक्ति से ही ज्ञान प्राप्त होता है। पर राम कृपा के बिना भक्त का पद आसानी से ही नहीं मिलता। निष्कर्ष यह कि राम का नाम स्मरण, नाम जाप, राम कथा श्रवण और राम को ही सर्व शक्तिमान परमेश्वर मानकर उनसे कृपा का अनुग्रह आवश्यक है। गोस्वामी जी बारम्बार बताते हैं कि राम भक्ति से भक्त के अंतःकरण में अज्ञान का अंधकार छूट जाता है। अगर अंदर-बाहर दोनों जगह उजाला ही उजाला चाहते हो तो रामनाम रूपी मणिदीपक को मुख रूपी द्वार की जीभ रूपी देहली पर रखो -

राम नाम मनिदीप धरू जीह देहरी द्वार।

तुलसी भीतर बाहरहुँ जौँ चाहसि उजिआर।।

(रामचरितमानस, बालकांड, पद संख्या 21)

आप पूछ सकते हैं कि नाना पुराण निगमागम के ज्ञान से समृद्ध तथा अपने युग की समस्या के प्रति जागरूक ए विचारक के नाते तुलसी द्वारा प्रस्तुत समाधान वास्तविक है या काल्पनिक? यथार्थ है या भ्रांति? प्रतिगामी है या अग्रगामी? प्रगतिशील है या प्रतिक्रियावादी?

विचारधारा और ऐतिहासिक मूल्य-दृष्टि - दोनों क्षेत्रों में इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर सरलीकरण की मांग करते हैं - हाँ और न में जवाब माँगना खुद-ब-खुद एक प्रकार की आत्मग्रस्तता या अवैज्ञानिकता है। मुख्य बात है यह समझना कि तुलसी की विचारधारा क्या थी और उस विचार व्यवस्था की निर्मिति में कौन-कौन से उपादान सक्रिय थे। शत-प्रतिशत वे न तो अद्वैतवादी थे और न विशिष्टाद्वैतवादी। तुलसी के युग तक चली आ रही विभिन्न विचार-परंपराओं और साधना-पद्धतियों के जो सांस्कृतिक अवशेष थे, उनसे निपटे बिना, उनकी व्यर्थता और असंगतियाँ बताये बगैर एक विचारक के रूप में अपनी मान्यताओं को वे प्रतिष्ठित कर ही नहीं सकते थे। आप लोगों ने हठयोगियों, सिद्धों, नाथों, संतों और शैवों के प्रति उनकी आलोचनात्मक टिप्पणियाँ पढ़ी हैं। दूसरा महत्वपूर्ण यह तथ्य भी आपकी आंखों से ओझल नहीं होना चाहिए कि गोस्वामी जी अपने युग के हिंदू समाज को संबोधित कर रहे हैं। उनकी रचनाएँ कहीं से भी मुस्लिम समाज को संबोधित नहीं हैं। विजेता शासक समुदाय की संस्कृति से अपनी उच्चता और गरिमा सिद्ध करने के लिए अक्सर अतीत को धो-पोछ कर, परिशोधित और परिष्कृत कर पेश किया जाता है। गोस्वामी जी भक्तिकालीन कवियों में इस दृष्टि से सबसे पृथक् दिखाई देते हैं - वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों आदि पर अपनी निर्भरता का बार-बार वे उल्लेख भी करते हैं। वे वैष्णव संप्रदाय और शैव संप्रदाय के बीच एकता स्थापित करना चाहते थे। शूद्रों और अंत्यजों के सामाजिक विद्रोहों को प्रकट करने वाली साधना-पद्धतियों को वे पौराणिक-वैदिक संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा मानते थे। अतः यह नहीं समझना चाहिए कि वे समन्वयवादी विचारक थे। आपने तुलसी साहित्य से संबंधित आलोचना पुस्तकों में उनके तथाकथित समन्वयवाद का

बार-बार उल्लेख अवश्य ही पढ़ा होगा। अद्वैतवादी चौखटे में विशिष्टाद्वैतवाद के कुछ पहलुओं, त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) और शैव साधना के कुछ तत्वों को एकसूत्र में पिरोने से उस युग में कोई समन्वयवादी नहीं हो सकता था। समन्वय तो तभी होता जब बौद्ध, जैन, लोकायत, आजीवक, सिद्ध, नाथ और सूफी मतों का लोकग्राह्य रूप में समाहार प्रस्तुत किया जाता। दर्शन की अवैदिक परंपराओं तथा सिद्धों-नाथों-संतों के प्रति गोस्वामी जी के दृष्टिकोण से आप परिचित हैं ही।

आचार्य शुक्ल, पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, बलदेव प्रसाद मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ. उदयभानु सिंह, रामविलास शर्मा आदि समालोचक और पं. राम किंकर उपाध्याय जैसे कथावाचक तक सभी उन्हें समन्वयवादी कहते आए हैं। विद्वानों की पंक्ति में सिर्फ डॉ. माता प्रसाद गुप्त भिन्न मत रखते आए हैं। इस विवाद में निर्भ्रांत रूप में हस्तक्षेप करते हुए उन्होंने कहा है -

कुछ लोग तुलसीदास को अद्वैतवादी और कुछ उनको विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं। कुछ कहते हैं कि उन्होंने दोनों का समन्वय किया था और कुछ कहते हैं कि दोनों के परस्पर विरोधी सिद्धांत भी उनकी रचनाओं में पाए जाते हैं। कुछ यह भी कहते हैं कि उनके आध्यात्मिक विचार उनके अपने हैं और इसलिए उनके सिद्धांतों को तुलसीमत या तुलसी दर्शन नाम देना चाहिए। किंतु वास्तविकता में इनमें से एक भी विचार ग्राह्य नहीं है और सभी भ्रमात्मक हैं। इस भ्रम का कारण यह है कि तुलसीदास के पूर्व रामभक्ति धारा का दर्शन क्या था, इसे जानने और समझने की यथेष्ट चेष्टा नहीं हुई है।

वास्तविकता यह है कि तुलसीदास ने जिस प्रकार अपनी राम कथा का निर्माण पूर्ववर्ती राम कथा के उस अंतिम रूप की नींव पर किया था जो "अध्यात्म रामायण" में मिलती है, उसी प्रकार उन्होंने अपने राम भक्ति दर्शन का निर्माण भी राम भक्ति दर्शन के उस अंतिम रूप की नींव पर किया था जो "अध्यात्म रामायण" में मिलता है।

तुलसी के तत्व दर्शन में जनसाधारण के लौकिक-सांसारिक जीवन के संबंधों, भावों, वृत्तियों और प्रेरणाओं को मायाकृत बताकर उनका निषेध किया गया है। बाह्य जगत और उसके संबंध परम-सत्ता और जीव की अपनी वास्तविक स्थिति के परिज्ञान में मायाकृत बाधा है। इसीलिए आपने देखा होगा कि गोस्वामी जी इनके फंदे, भ्रमजंजाल, काम, क्रोध, मोह, लोभ, स्त्री-पुरुष संबंध, पिता-पुत्र संबंध तथा ऐंद्रिक संवेदनाओं का परित्याग आवश्यक मानते हैं। जैसे यज्ञ में तर्पण, हवन और बलिदान होता है उसी तरह भावनाओं के परित्याग का यज्ञ आवश्यक है जिसमें ममता की बलि करनी है, तभी इन्द्रिय निग्रह होगा और मन वश में आएगा। संसार में आसक्ति भवनिशा है, अब इंद्रियों के वश में नहीं रहना है, जितेंद्रिय बनना है।

"विनय पत्रिका" में इंद्रिय बोधों के निषेध का बारम्बार उपदेश दिया गया है। इसके एक पद में यह कहा गया है कि जो भी आदमी इनका कहना मानता है वह भवकूप में गिरता है। इसी पद में आगे कहा गया है कि त्वचा, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, मेद और वीर्य - शरीर की रचना करने वाले, ये सातों धातु पाप के भंडार हैं। "विनय पत्रिका" के एक अन्य पद में यह कहा गया है कि आत्म-बोध और पर-बोध इस लौकिक संसार रूपी वृक्ष का मूल है, भय इसके कांटे हैं और शोक इसके फल हैं। इस भवतर - इस संसार रूपी वृक्ष को कुल्हाड़ी से काट देने में ही भलाई है। लौकिक-पारिवारिक जीवन जीते हुए अपनी आजीविका के संघर्ष, बाल-बच्चों के भरण-पोषण आदि के क्रम में काम, लोभ, क्रोध, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, ममता, हर्ष विषाद आदि की भावनाएँ मनुष्य की चित्तवृत्तियों को आंदोलित किए रहती हैं। तुलसीदास कहते हैं कि मोह सकल व्याधियों का मूल है, काम वातरोग है, क्रोध पित्त है, विषयों का मनोरथ पेचिश रोग है, ममता दाद है, ईर्ष्या खुजली है, हर्ष-विषाद कंठमाला रोग है। ऐसी काव्यवृत्तियों से तुलसीदास का काव्य-कृतित्व भरा पड़ा है। इसे ही गोस्वामी जी परिभाषिक करते हैं- "सकल धरम विपरीत करत।" नेत्रों से युवतियों को देखना, कानों से दूसरों की आलोचना सुनना, अपने मुँह से अन्यो के गुण-दोष बताना, हृदय में अभिमान, मोह आदि को स्थान देना और अपने सुंदर मानव शरीर से सांसारिक तृप्ति ढूँढना - ये सब "सकल धरम विपरीत" हैं।

मन रूपी भवन में जो स्थायी और संचारी भाव हैं (मोह, लोभ, क्रोध आदि), वे चोर की तरह घुस आये हैं। इन सहज मानवीय वृत्तियों को अद्वैतवादी शंकराचार्य भी चोर कहते हैं (दिहें तिष्ठन्ति तस्कराः)। कबीर भी इन वृत्तियों को और सांसारिक इच्छाओं को चोर ही बताते हैं (तोरी गठरी में लाग़ा चोर)। वैदिक दर्शन के भाष्यकारों से लेकर भक्तिकाल के रचनाकारों तक में यह प्रवृत्ति द्रष्टव्य है। यदि आप तुलसी-काव्य का मनोयोगपूर्वक अध्ययन करें तो ऐसे हजारों उदाहरण मिल जाएंगे। गोस्वामी जी लौकिक इंद्रिय बोध, मनोविकार और संसार धर्म के परित्याग के लिए आध्यात्मिक और नैतिक - दोनों प्रकार के तर्कों का उपयोग करते हैं। ये कामनाएं और वासनाएं मल हैं, पाप हैं, कलष हैं। ऐसी स्थिति में आपके मन में भी यह प्रश्न उठता होगा कि अगर साहित्य का सहृदय पाठक अथवा श्रोता अपनी इंद्रियों का निग्रह कर ले, भावों का परित्याग कर दे तो फिर राम के सत्य, शील और सौंदर्य का आस्वादन कैसे करेगा? आलम्बन, उद्दीपन स्थायी भाव, संचारी भाव आदि से युक्त रसात्मक काव्य का आनंद कैसे लेगा? राम कथा के विभिन्न अवतारी चरित्रों की नरलीला के अंतर्गत उनके मानवीय क्रियाकलापों, उनके बाल रूप, उनके प्रेम, उनके पराक्रम, उनके बंधुत्व, उनकी प्रजावत्सलता - अर्थात् वनगमन से लेकर रावण के संहार तक - रामलीला के दृश्यों को देखकर संवेदनात्मक प्रतिक्रिया कैसे होगी? बिना इंद्रियों के? क्या यह विचित्र बात नहीं लगती? रघुकुल गाथा के अंतर्गत लौकिक-अलौकिक व्यापारों को देखकर सुख-दुःख, हर्ष-पुलक, क्रोध, करुणा, ममता आदि ठीक है, पर ये ही वृत्तियाँ जनसाधारण के लौकिक जीवन के लिए त्याज्य और गर्हित हैं? तुलसी के विचार जगत और उनके भावजगत का यही अंतर्विरोध है।

13.3.2 सामाजिक संरचना

जातिप्रथा अथवा वर्णाश्रम व्यवस्था पर लगातार हो रहे प्रहार; शुद्रों, अंत्यजों और दलित जातियों के भीषण उत्पीड़न के विरुद्ध और धर्म-परिवर्तन, नाथों, सिद्धों और संतों द्वारा वर्णाश्रम व्यवस्था के विरुद्ध जन-जागृति से भरी बानियों और पदों का व्यापक प्रभाव और अंततः जात-पाँत, छुआछूत, ऊँच-नीच के भेदभाव से भरी आश्रम व्यवस्था के अंदर पैदा हो रही टूट-फूट से भक्त कवि तुलसीदास क्षुब्ध और संतप्त थे। आपने ध्यान दिया होगा कि इतिहास की इस बहुआयामी प्रक्रिया को ठीक से समझने के बजाय वे दुःखी और खिन्न थे। इसके लिए वे कलियुग को दोषी तो मानते ही थे लेकिन ज्यादा दोषी वे सिद्धों, नाथों और संतों को समझते थे। अपने वचन और वेशभूषा मात्र से वैरागी बने लोगों ने जगत को ठग लिया है (वचन-बिराग, वेष जगतु हरो सो है)। कवितावली के इसी पद में बताया गया है कि गोरख ने जोग जगाकर, भक्ति को खदेड़ कर समाज से बाहर कर दिया (गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग)। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस पद के प्रारंभ में ही वर्ण, धर्म, आश्रम, आदि के विनाश की तथाकथित ट्रेजेडी पर तुलसी के गहरे शोक संताप की छाया फैली हुई है। वर्णाश्रम के विनाश पर संताप और वर्णाश्रम व्यवस्था के सोपान-क्रम में निचले दर्जे पर अवस्थित जातियों के बीच से आये कबीर, रैदास, दादू आदि संतों के प्रति कटूक्ति और शापवाणी - ये दोनों बातें तुलसी की काव्य-कृतियों में अनेक स्थलों पर एकत्र ही मिलती हैं। रामचरितमानस के उत्तरकांड में पंद्रहवीं सदी से चले आ रहे विवाद का उत्तर गोस्वामी जी सोलहवीं सदी के अंतिम दशक में देते हैं -

बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह तें बहुत घाटि ।

जानै ब्रह्म सो बिप्रबर आँखि देखावहिं डाटि ।।

परत्रिय लंपट कपट सयाने । मोह द्रोह ममता लपटाने ।।

तेइ अभेदवादी ज्ञानी पर । देखा मैं चरित्र कलिजुग कर ।।

आपु गए अरु तिन्हूँ घालहिं । जे कहूँ सतमारग प्रतिपालहिं ।।

कल्प कल्प भरि एक एक नरका । परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका ।।

जे बरनाघम तेलि कुम्हारा । स्वपच किरात कोल कलवारा ।।

नारि मुई गृहसंपति नासी । मूड मुड़ाइ होहिं संन्यासी ।।

जे विप्रन्ह सन आपु पुजावहिं । उभय लोक निज हाथ नसावहिं ।।

बिप्र निरच्छर लोलुप कामी । निराचार सठ बृषली स्वामी ।।

सूद्र करहिं जप तप ब्रत नाना । बैठि बरासन कहहिं पुराना ।।

सब नर कल्पित करहिं अचारा । जाइ न बरनि अनीति अपारा ।।

(रामचरितमानस, उत्तरकांड, पद संख्या 99-100)

शूद्र ब्राह्मणों से विवाद करते हैं और कहते हैं कि हम क्या तुमसे कुछ कम हैं? जो ब्रह्म को जानता है वही श्रेष्ठ ब्राह्मण है - यह कह कर वे ब्राह्मणों को डाँट कर आँखें दिखाते हैं। जो परायी स्त्री में आसक्त, कपट करने में चतुर, मोह-ममता में लिपटे हुए हैं - ऐसे ही लोग ब्रह्म और जीव को एक बताने वाले अभेदवादी ज्ञानी हैं। मैंने उस युग का यह चरित्र देखा है। उपर्युक्त ज्ञानी-अभेदवादी स्वयं तो नष्ट हो ही चुके हैं - सन्मार्ग पर चलने वालों को भी नष्ट कर देते हैं। जो तर्क करके वेद की निन्दा करते हैं, ऐसे लोग युग-युग तक एक-से-एक नरक में पड़े रहते हैं। तेली, कुम्हार, चांडाल, भील, कोल और कलवार आदि जो वर्ण में नीचे हैं, स्त्री के मरने पर या घर की संपत्ति नष्ट होने पर सिर मुड़ाकर संन्यासी हो जाते हैं। वे अपने को ब्राह्मण से पुजवाते हैं और अपने ही हाथों लोक-परलोक दोनों नष्ट कर देते हैं। ब्राह्मण अनपढ़, लोभी, कामी, आचरणहीन, मूर्ख और नीची जाति की व्यभिचारिणी स्त्रियों के स्वामी होते हैं। शूद्र नाना प्रकार के जप, तप और व्रत करते हैं तथा ऊंचे आसन वाली गद्दी पर बैठकर पुराण कथा का वाचन करते हैं। सब मनुष्य मनमाना आचरण करते हैं। अपार अनीति का वर्णन नहीं किया जा सकता।

आप पूछेंगे वेदों, स्मृतिग्रंथों और पुराणों का पालन न करने पर भी तो वे इतने ही क्षुब्ध और चिंतित हैं - इसके पीछे कारण क्या हैं? आप शायद यह भी जानना चाहेंगे कि ब्राह्मणों के प्रति निरादर के उल्लेखों के साथ जो गहरा विषाद झलकता है उसके मूल में क्या है? जब तुलसी के समसामयिकों ने उनसे पूछा था कि आज का सबसे बड़ा पुण्य क्या है तो उन्होंने जवाब दिया था - इस जगत में पुण्य एक ही है, उसके समान दूसरा नहीं। वह है मन, वचन और कर्म से ब्राह्मणों के चरणों की पूजा -

पुन्य एक जग महुँ नहिँ दूजा। मन कम बचन बिप्र पद पूजा।।

(रामचरितमानस, उत्तरकांड, पद संख्या 45)

ब्राह्मणों के द्रोही को, यदि वह देवराज इन्द्र के समान ऐश्वर्यवान भी हो, तो भी यह राम कथा नहीं सुनानी चाहिए। जो द्विज-निन्दक है वह घोर नरक में जाएगा और कौए के रूप में पुनर्जन्म पाएगा (वही, पद संख्या 121)। गोस्वामी जी उन सबको यह शाप देते हैं कि वे युगों-युगों तक नरक में पड़े रहेंगे जो तर्क-वितर्क करके वेद की निन्दा करते हैं, सकल निगमागम ज्ञान के प्रतिकूल आचरण करते हैं और हेतुवाद (तर्कवाद) के समर्थक हैं।

ब्राह्मणवादी वैदिक-पौराणिक संस्कृति, विचारधारा और सामाजिक व्यवस्था के चतुर्दिक क्षरण के युग में वे रामभक्ति द्वारा समाज की पुरानी परिपाटियों को नवजीवन देना चाहते हैं। गोस्वामी जी इतिहास की गति पहचान नहीं पाते। वे यह समझ ही नहीं पाते कि वर्गीय अंतर्विरोध तीव्र हो रहे हैं और पुरानी व्यवस्था अपनी ही असंगतियों के परिणामस्वरूप लड़खड़ा रही है। यद्यपि भक्तिकालीन आंदोलन के उत्थान काल के सामाजिक प्रश्नों में सिर्फ एक प्रश्न पर वे सहमति व्यक्त करते हैं कि भगवान के दरबार में भक्ति का अधिकार सबके लिए एक-समान है और इस पहलू पर कोई गैर बराबरी नहीं हो सकती - पर यह बराबरी तो परलोक के लिए थी। इस लोक में यदि राम राज्य आएगा भी तो वर्णाश्रम के तहत शास्त्रों द्वारा निर्धारित विधान के तहत सब अपने-अपने कर्म ही करेंगे। पर जहाँ तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में वैधानिक और शास्त्रीय अंतर का प्रश्न है, उसमें कोई छूट नहीं होगी। भगवान के दरबार में भी ब्राह्मणों की ही श्रेष्ठता रहेगी, यद्यपि प्रभु की दृष्टि में दास सर्वप्रिय है :

मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा।।

सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए।।

तिन्ह महुँ द्विज, द्विजमहुँ श्रुतिधारी। तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी।।

तिन्ह महुँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी।।

तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।।

पुनि पुनि सत्य कहउं तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं।।

(रामचरितमानस, उत्तरकांड, पद संख्या 86)

पहले हम उनके तत्त्वदर्शन के चौखटे में स्त्री संबंधी उनके विचारों की छानबीन करें। गोस्वामी जी माया की साक्षात् मूर्ति के रूप में स्त्री समुदाय को देखते हैं। डॉ. रमेश कुंतल मेघ इसे 'रत्नावली ग्रथि' मानते हैं। अद्वैतवाद की तर्क-व्यवस्था को वे स्त्री-प्रसंग में जब-जब रूपायित करते हैं उन्हें स्त्री और माया दोनों अभिन्न प्रतीत होती हैं। रामचरितमानस में नारद से प्रभु राम स्वयं कहते हैं - 'अति दारुण दुखद माया रूपी नारि' (अरण्यकांड, पद संख्या 43)। वह उक्ति छोटे-मोटे घटना-प्रसंगों में किसी नगण्य पात्र का तर्क-वितर्क नहीं है। भगवान राम जब नारद से यह स्पष्टीकरण दे रहे हैं कि उन्हें विवाह क्यों नहीं करने दिया गया, तभी स्त्री समुदाय पर पूरी वैचारिक चर्चा होती है। अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए भगवान राम पुराण, वेद और संतमत का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि मोह रूपी विपिन में स्त्री बसंत ऋतु बनकर आती है और सौंदर्य-शोभा-मकरंद से प्रलुब्ध कर लेती है। आपको ये उक्तियाँ कविजनोचित सादृश्य वर्णन मात्र प्रतीत हो सकती हैं। इस प्रसंग के निष्कर्ष रूप में निम्नलिखित पंक्तियों पर यदि आप ध्यान दें तो आपका संदेह दूर हो जाएगा:

अवगुणमूल सुलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।

ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि।।

(रामचरितमानस, अरण्य कांड, पद संख्या 44)

अर्थात् युवती स्त्री अवगुणों की मूल, पीड़ा देने वाली और सब दुखों की खान है। इसलिए हे मुनि! मैंने उक्त ज्ञान के आधार पर तुम्हारे निवारण के लिए तुमको विवाह करने से रोका था।

स्त्री जाति के लिए तुलसी एक ही धर्म, एक ही नियम बताते हैं "काय वचन मन पति पद प्रेमा।" पति चाहे जैसा भी हो - वृद्ध, रोगजर्जर, जड़, धनहीन, अंध, बधिर, क्रोधी, अतिदीन ...। इसके बावजूद ऐसे पति का अपमान करने वाली स्त्री यमपुरी जाती है। नारी अपनी सहज प्रकृति से ही "अपावन" है। इसके अलावा "बिधिहूँ न नारि हृदय गति जानी" जैसी उक्तियाँ अनेक स्थलों पर आती हैं। पितृसत्तात्मक सामंती मूल्य-दृष्टि के तहत "तिरिया चरित्तर" की अवधारणा तुलसी की काव्यकृतियों में भी बद्धमूल होकर बार-बार उभरती है।

तुलसी की सामाजिक संरचना में सामंती राजतंत्र की विचार-दृष्टि का प्रतिफलन सर्वत्र दिखाई देता है। गरीबनेवाज, दीनदयालु, कृपानिधान, दलितों-वंचितों के शरणदाता के रूप में सर्वशक्तिमान प्रभु राम की कल्पना से यह स्पष्ट होता है कि गोस्वामी जी व्यवस्था तो सामंती राजतंत्र की ही सर्वश्रेष्ठ समझते थे, पर उस व्यवस्था में राजा के पद वे अपने आदर्शों के अनुकूल उदार राजा को अधिष्ठित करना चाहते थे। ऐसा राजा जो सत्य, शील और सौंदर्य की प्रतिमूर्ति हो, अन्यायी का दलन करने वाला वीर और पराक्रमी हो, निर्धन-निस्सहाय लोगों के लिए करुणा-निधान हो और कठिन जीवन संग्राम में अविचलित रहने वाला साधक हो। राजा-प्रजा संबंधों के मामले में प्रजावत्सल हो, शरणागत को अभयदान देता हो। राम राज्य की परिकल्पना में तुलसी के ये आदर्श निहित थे। लेकिन उस राम राज्य में भी वर्णाश्रम अपने अविकृत शुद्ध रूप में फिर से जीवित हो जाये - उनकी इसी आशावादी कल्पना की झलक मिलती है। राम राज्य के सामाजिक-राजनीतिक आदर्श के प्रतिलोम के रूप में लंका के राजा का राज्य है। विलासिता, ऐश्वर्य, मदांधता, अविवेक, अनैतिकता और निरंकुशता का प्रतिनिधित्व रावण करता है।

राम के प्रति दास्य भाव - सेवक भाव - वाली भक्ति राजा-प्रजा संबंधों के बारे में उनकी सामाजिक-राजनीतिक मान्यताओं का ही भावात्मक प्रतिरूप है।

अपने युग की समस्याओं के समाधान के लिए तुलसी ने राम कथा के आख्यान का जो पुनर्गठित पाठ तैयार किया उसमें कलियुग के प्रतिलोम के रूप में राम राज्य वस्तुतः एक 'मिथकीय यूटोपिया' है। यह यूटोपिया भारतीय सामंतवाद के अभ्युदयकालीन राजतंत्र का आदर्शीकरण करता है, लोक-विश्वासों और दंतकथाओं को नये संदर्भों में काल्पनिक स्वरूप प्रदान करता है, मृत अतीत का वर्तमान जटिलताओं में नये सिरे से आह्वान करता है और प्राचीन की स्वप्नमयी अतिरंजना करता है - चाहे वह निरी फैंटेसी ही क्यों न हो जाए।

13.4 तुलसी की राजनीतिक चेतना और राम राज्य की परिकल्पना

तुलसी के काव्य में युग
संदर्भ

मध्यकालीन भारतवर्ष में सामन्तवाद के पतन के साथ-साथ हिंदू धर्म में भी जकड़बंदी, सड़ांध, गतिरोध और दुर्निवार बुराइयों के लक्षण प्रकट हो रहे थे। पुरानी व्यवस्था के पंडितों ने वेद-वेदांत, पुराण, स्मृति और धर्मशास्त्र के नये-नये भाष्य प्रस्तुत कर मरणोन्मुख व्यवस्था को पुनर्जीवित करने और बचाने का प्रयास किया। जन्म, मुंडन, उपनयन, विवाह, श्राद्ध आदि जैसे संस्कारों के अवसर पर वैदिक मंत्रों के पाठ के साथ कर्मकांडीय विधानों की पुनः जोर-शोर से प्रतिष्ठा की गई। जाति प्रथा, वर्णाश्रम व्यवस्था, यज्ञ विधान आदि को नए सिरे से अनुमोदित करने के पीछे तुर्क, अफगान, मुगल, पठान आदि विदेशी आक्रमणकारियों और उनके धार्मिक-सामाजिक विचारों से रक्षा के प्रयासों ने वैदिक-पौराणिक संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति को नये सिरे से मजबूत कर दिया। सामंती शासक वर्ग ने अपने हितों को धार्मिक-जामे में पेश करना आवश्यक समझा और मुगल शासकों ने भी धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति से इस प्रवृत्ति को अपना समर्थन प्रदान किया। तुलसीदास की विचार-व्यवस्था और उनकी राजनीतिक चेतना उल्लिखित प्रवृत्ति के अनिवार्य अंग के रूप में विकसित हुई थी। कहना न होगा कि जनसाधारण पर ढाये जा रहे जुल्म, उनकी दुरवस्था, दरिद्रता तथा भूखे-नंगे लोगों की चीख-चीत्कार का वर्णन उन्होंने पूरी मार्मिकता और करुणा के साथ किया है। यहाँ तक कि महामारी, अकाल, गरीबी आदि की तत्कालीन वास्तविकता पूरी प्रखरता के साथ अंकित हो गई है। धार्मिक पाखंड, आडम्बर, झूठ, मक्कारी, अनैतिकता आदि का पर्दाफाश करने में भी गोस्वामी जी ने अपनी तरफ से कोई कसर नहीं छोड़ी है। पर अपने युग के सामाजिक-राजनीतिक संकट का हल प्रस्तुत करने में वे वैदिक-पौराणिक संस्कृति के ढाँचे से बाहर निकल ही नहीं पाते। उनके पास एक ही हल है - भक्ति, राम की भक्ति। उनका तर्क है कि राम गरीबनेवाज हैं, दीन दयालु हैं और शरणागत की रक्षा करने वाले भक्त-वत्सल और उद्धारक हैं। तुलसी वर्तमान यथार्थ के संकट का एक अतीन्मुख समाधान प्रस्तुत करने में राम कथा के सभी चरित्रों और उपाख्यानों का आदर्शीकरण करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास के संपूर्ण कृतित्व के अंदर इस असंगति से उत्पन्न द्वन्द्व और तनाव की गूँज-अनुगूँज सुनी जा सकती है।

तुलसी के राम की दृष्टि में सभी मनुष्य बराबर हैं। अपनी भक्ति के बल पर जात-कुजात, छोटा-बड़ा, अमीर-गरीब सभी बराबर हैं। भक्ति की भावभूमि से मानवीय समानता और एकता का आह्वान करने में तुलसी भक्तिकाल के किसी भी कृतिकार से पीछे नहीं हैं। पर वर्णाश्रम व्यवस्था की टूटन, जाति प्रथा के विनाश तथा श्रुति और स्मृति के अनादर से गोस्वामी तुलसीदास बहुत दुखी और संतप्त हैं। कलियुग की करालता के वर्णन में ऐसे प्रसंग बार-बार आते हैं। ब्राह्मणों के अनादर से भी वे बहुत परेशान और चिंतित हैं। वे जाति प्रथा के विनाशकारी परिणामों पर भी गौर नहीं करते। नाथों, सिद्धों और संतों की वे बार-बार खिल्ली उड़ाते हैं और ज्ञान मार्ग का खंडन करते हैं। भक्ति आंदोलन के मूल में अंतर्निहित विभिन्न दार्शनिक धाराओं के टकराव में वे तटस्थ नहीं हैं बल्कि खुल्लम-खुल्ला तौर पर गोरखनाथ, कबीर आदि पर फब्तियाँ कसते हैं। विशिष्टद्वैतवाद की प्रतिपत्तियों का अवलम्बन कर वे वेद-वेदांत, स्मृतियों और पुराणों की पुनरीचित एक नयी विचार-व्यवस्था कायम करते हैं। इस विचार व्यवस्था में ज्ञान मार्ग का, संतों के रहस्यवाद का, जाति प्रथा को समूल नष्ट करने के आह्वान का, राम से भिन्न कृष्ण के स्वतंत्र व्यक्तित्व का पूरी तरह निषेध है। इस विचार-व्यवस्था में सिर्फ दास्य भाव की भक्ति है। इस भक्ति में नैतिकता मिली हुई है - इसीलिए सामाजिक उत्पीड़न के प्रति जागरूकता भी है। भक्त याचक है और भगवान राम दाता है। भक्ति का यह स्वरूप सामंती राजतंत्र के अंतर्गत निर्मित राजा-प्रजा संबंध का ही धार्मिक प्रतिबिम्ब है। "जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।" राजतंत्र के ऐसे स्वरूप की यूटोपिया या अतिरंजित आदर्शीकरण का प्रयास रामराज्य की परिकल्पना में प्रतिफलित हुआ है।

अन्याय, उत्पीड़न, दुराचार, पाखंड और अनैतिकता के राज्य के रूप में कलियुग का वर्णन आता है और ठीक इसके विपरीत राम राज्य आता है, जहाँ न्याय है, शांति है और सर्वत्र सुख है। तुलसी का राज्यादर्श ऐसे शासक की कल्पना है जिसका कोई निजी स्वार्थ नहीं होता, त्याग ही जिसका आचरण है और लोकहित ही जिसका जीवन लक्ष्य है। इस राज्य में वर्णाश्रम के अंतर्गत सभी अपने-अपने कर्तव्य

का पालन करते हैं, पर ऊंच-नीच का भेद नहीं है। कोई निर्धन और दरिद्र नहीं है। पृथ्वी धन-धान्य से परिपूर्ण है। बादल समय पर जरूर बरसते हैं और सूर्य आवश्यकता के अनुरूप ही गर्मी देता है। शासन के पुण्य, धर्म और प्रताप से जनता सुखी और संतुष्ट है। परस्पर प्रीति है, कोई पीड़ा और अनाचार नहीं है। अल्पायु में मृत्यु नहीं होती और किसी को दैहिक, दैविक और भौतिक कष्ट नहीं होता। राजा इतना कम टैक्स ले कि किसी को पता न चले और उसके बदले में सुख-समृद्धि की वर्षा करे ताकि लोग कहें कि राजा दानी और प्रजापालक है। सूर्य के आचरण से हमें ऐसी ही शिक्षा लेनी चाहिए। सूर्य थोड़ा-थोड़ा करके पानी सोखता है पर वर्षाकाल में वही पानी जब बरसता है तो सब हर्षित हो जाते हैं-

बरषत, हरषत, लोग सब, करषत लखै न कोइ।
तुलसी प्रजा सुभाग तें, भूप भानु सो होई॥

निर्भय और हृदयहीन संसार में तुलसी के राम राज्य की यह परिकल्पना उत्पीड़ित जनसाधारण के लिए असंदिग्ध रूप से चिरकाम्य आश्रय-स्थल बनी हुई है। तुलसी की लोकप्रियता और जनमन में राम के प्रति भक्ति और अनुराग का रहस्य भी यही है। चूंकि किसी भी शासक ने वास्तविक रूप में राम राज्य के कल्पित सुख को चरितार्थ नहीं किया है, अतः तुलसी के रामचरितमानस और उनके संपूर्ण कृतित्व को दरिद्र और वंचित जनसाधारण ने एक थाती के रूप में अपने सीने से लगा रखा है। इसी संदर्भ में गोस्वामी जी की उक्तियाँ सदियों से हृदयहीन विश्व का हृदय और काल्पनिक सुख की अनंत निधि बनी हुई हैं।

13.5 सारांश

इस इकाई में हमने तुलसीदास के काव्य में तत्कालीन समाज का अध्ययन किया है। तुलसीकालीन युग राजनैतिक स्थिरता का युग था। मुगल सल्तनत अपनी मजबूती और उठान पर थी। साहित्यिक - सांस्कृतिक दृष्टि से भी यह रचनात्मक युग था - अबुल फजल, रहीम, रामदास, दादूदयाल अपने-अपने क्षेत्रों में साहित्य की रचना कर रहे थे। परंतु समाज परंपरागत रूढ़ियों में जकड़ा हुआ था। कोई वैज्ञानिक खोज नहीं हो रही थी। बौद्धिक परिवेश संकीर्ण था। इसी युग में तुलसी का जन्म हुआ था। तुलसी ने 'कवितावली' में समकालीन समाज का यथार्थ और कटु चित्रण किया है। परंतु अपने संपूर्ण दृष्टिकोण में तुलसी परंपरा का ही निर्वाह करते प्रतीत होते हैं। जाति-प्रथा, स्त्री-समाज और राजतंत्र के बारे में उनकी सोच आज की प्रगतिशील सोच से मेल नहीं खाती।

13.6 अभ्यास/प्रश्न

- (1) कवितावली में तुलसीदास ने अपने समकालीन समाज का वर्णन किस प्रकार किया है?
- (2) तुलसीदास की विचारधारा का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।